रक्तपात

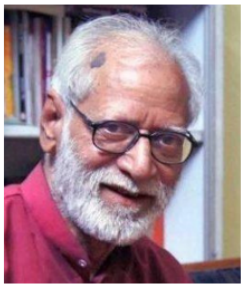

हिन्दी ADDA

दूधनाथ सिंह

रक्तपात

आहट-सी लगी। हाँ, पत्नी ही थीं। पलंग से कुछ दूर पर अँगीठी रख रही थीं। एक हाथ में परोसी हुई थाली थी। अँगीठी रख कर वे पलंग की ओर गईं। पलंग से कुछ ही दूर पर बुढ़िया एक खाट पर चुपचाप बैठी थी। पत्नी ने थाली बुढ़िया के आगे रख दी। बुढ़िया एकटक उनका मुँह ताकती मुस्कराती रही। उन्होंने हाथ से थाली की ओर इशारा

किया। बुढ़िया ने एक बार थाली की ओर देखा और फिर उनकी ओर, फिर मुस्कराई। पत्नी ने फिर थाली की ओर इशारा किया तो बुढ़िया ने थाली उठा कर अपनी गोद में रख ली और बड़े-बड़े ग्रास तोड़ कर निगलने लगी। वे चुपचाप बिना कुछ कहे नीचे उतर गईं। दुबारा लौटीं तो उनके एक हाथ में एक छोटी-सी पतीली थी और दूसरे हाथ में पानी का लोटा। पतीली को अँगीठी पर रख कर वे फिर बुढ़िया की खाट के पास गईं और पानी का लोटा नीचे रखते हुए बुढ़िया को उँगली के इशारे से दिखा दिया। बुढ़िया ने एक बार लोटे की ओर देखा और उनकी ओर देख कर फिर मुस्कराने लगी। ऐसा लगता था, जैसे केवल मुस्कराना-भर उसे आता हो और कुछ भी नहीं। फिर वह खाने में मशगूल हो गई। रोटी के खूब बड़े-बड़े कौर तोड़ती और मुँह में डाल कर चपर-चपर मुँह चलाती। कौर अभी खत्म भी न हुआ होता कि फिर रोटी का एक बड़ा-सा टुकड़ा सब्जी और दाल में लपेट कर वह मुँह में ठूँस लेती।

'इन्हें इसी तरह खाने की आदत पड़ गई है।' पत्नी ने कहा। वे चुपचाप पलंग के पास खड़ी थीं।

वह बिना कुछ कहे बुढ़िया को देखता रहा।

"और जब से ऐसी हो गई हैं, खुराक काफी बढ़ गई है..."

"बड़ी फूहड़ हो गई हैं। कुछ नहीं समझतीं जहाँ खाती हैं वहीं..."

फिर भी वह कुछ नहीं बोला तो पत्नी बैठ गईं। बालों में हाथ फेरते हुए बोलीं, "क्या किया जाए, कोई बस नहीं चलता। ...अच्छा, मैं नीचे का काम निपटा कर अभी आई। आप जरा अँगीठी की ओर खयाल रखना - दूध उफना कर गिर न जाए।"

वे उठ कर जाने लगीं।

सीढ़ियों के पास से मुड़ कर उन्होंने कहा, "सो न जाइएगा, हाँ।" वे मुस्कराईं और नीचे उतर गईं।

करवट बदल कर वह दूसरी ओर देखने लगा। सामने बरगद का वही विशालकाय वृक्ष - जन्म-जन्मांतर से इस कुल के सुख-दुख का साक्षी। कितना घना अंधकार... कितने दिनों बाद उसने देखा था, इतना ठोस, गझिन, शीतल और मन को सुकून देने वाला अंधकार। शायद दस वर्षों बाद। यह बरगद का पेड़ वैसा ही था। ऊपर की एक-दो डालें आँधियों में टूट गई थीं और उसकी गोल-गोल छाया के बीच, ऊपर से गहरा, काला खंदक-सा बन गया था। जहाँ-तहाँ जूगुनू नन्हें-नन्हें पत्तों के बीच दमक कर हल्का-सा

प्रकाश फेंक जाते। पत्ते दिप कर, अँधेरे में फिर एकाकार हो जाते। एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस और फिर असंख्य जुगुनू-जैसे पूरा पेड़ उनका सुनहरा घोंसला हो। पीछे की ओर घनी बँसवारियाँ थीं। बाँसों का एक झुरमुट छत के एक कोने तक आ कर फैला हुआ था। हवा की हल्की थाप पर पत्तियों का झुनझुना रह-रह के बजता और फिर खामोश हो जाता। एक ओर कटहल के दो पेड़ अंधकार को और भी घना करते हुए चुप थे। दरवाजे के बाहर, नीचे दादा सोए हुए थे। नाक बज रही थी। उसने घड़ी देखी... दस। कान के पास ले जा कर वह घड़ी के चलने की आवाज सुनता रहा - चिङ-चिङ, चिङ चिङ, चिङ चिङ... जैसे विश्वास नहीं हो रहा था कि दस बजे इतना खामोश अँधेरा चारों ओर हो सकता है...

इससे पहले जब वह घर आया था... उस बार भी दादा ने ही लिखा था, पिता की मृत्यु के बारे में। फिर तार भी दिया था। वह चुपचाप पड़ रहा। जिनके यहाँ रहता था, उन्हीं के लड़के से चिट्ठी लिखवा दी कि 'प्रभु जी यहाँ नहीं हैं। बाहर गए हैं। कब तक लौटेंगे, किसी को पता नहीं। कहाँ गए हैं यह भी किसी को नहीं मालूम...' फिर दिन-भर वह घर में ही पड़ा रहता - नंग-धड़ंग, बिना खाए-पीए अपनी नसों की आहट सुनता। बीच-बीच में कभी-कभी वह सोचता कि यह खबर गलत है। दादा ने झूठ-मूठ ही लिख दिया है, उसे घर बुलाने के लिए। लेकिन नहीं, इतना बड़ा झूठ दादा जी नहीं लिख सकते। उसने लोगों से मिलना-जुलना छोड़ दिया। एकदम नंगी, वीरान सड़कों पर वह चलता चला जाता... चला जाता... तब तक, जब तक थक कर चूर-चूर न हो जाए। कहीं नदी के किनारे पानी में पैर डाले बैठा रहता...। इसी तरह कई महीने गुजर गए थे। दादा की चिट्ठी आई - 'माँ बहुत उदास हैं। दिन-रात रोती रहती हैं। उसे बुलाती हैं...'।

चुपके-से बिना सूचित किये वह घर चला आया था। माँ दिन भर रोती रहीं। वह चुपचाप उनके पास एक अपराधी की भाँति बैठा रहा। माँ अन्यमनस्क भी लग रही थीं। धीमे से एक बार कह भी डाला - "ऐसे पूत का क्या भरोसा! जो अपने बाप का न हुआ वह और किसका होगा..." रात हुई तो वह बाहर ही सोया। माँ आईं और चुपके-से चादर उढ़ा गईं। माथा छू कर देखा। बालों में हाथ फेर कर ललाट पर बिखरी लटें हटा दीं। तलुवे सहलाए। फिर चुपचाप चली गईं। बचपन से ही माँ की यह आदत थी। जब-जब वह चादर फेंक देता, माँ उठ-उठ कर ठीक से उढ़ा दिया करतीं। नींद आने के लिए तलुवे सहलातीं, सिर उठा कर तकिये पर रख देतीं...।

लेकिन दूसरे दिन माँ आईं और चुपचाप पायताने बैठ कर पैर दबाने लगीं। उसे लगा कि माँ सिसक रही हैं। वह उठ कर बैठ गया। कितना असह्य था, माँ का यह रोना... यह सब-कुछ! माँ को वह क्या कह सकता था? माँ क्या सब जानती नहीं थीं? शायद

पिता भी जानते थे और सारा घर जानता था। लेकिन कोई भी क्या कर सकता था! ठीक है, जो हो रहा है वही होने दो - उसने सोचा। उसे लगा कि कहीं कुछ घट नहीं रहा है। सब-कुछ अपनी जगह पर एकदम अचल है। वह जड़ हो गया है - अपने से भी पराया... माँ तलुवे सहलाती हुई सिसक रही थीं। उसके मुँह से कुछ नहीं निकला। आखिर माँ ने उठते हुए कहा था, "बेटा! इतना हठ किस काम का! पिता तेरे क्या कम दुखी थे? लेकिन बेटा! बड़ों से कोई अपराध हो जाए तो उन्हें इस तरह कहीं सजा दी जाती है। पिता तो परमात्मा है। और फिर वे भी क्या जानते थे? बेटा! बड़ा वह है जो अपनी तरफ से सभी को क्षमा करता चले। और वह तो फिर भी नाते में तेरी बहू है... कहीं कुछ और हो जाए तो इस हवेली की नाक कट जाएगी।' माँ फुसफुसाईं... "अभी कुछ नहीं बिगड़ा है... चल, उठ।" माँ ने बाँह पकड़ के उठा लिया।

यही पलंग था। ऊपर आ कर वह चुपके से लेट गया था। पत्नी आईं और खड़ी रहीं, फिर मुस्कराती रहीं।

"बैठ जाइए।" उसने कहा।

"शहर तो बहुत बड़ा होगा," वे बैठती हुई बोलीं।

"जी", उसने स्वीकार भाव से कहा।

"हमने भी शहर देखे हैं।"

"जी!"

"कह रही हूँ - हमने भी शहर देखे, लेकिन हम कोई रंडी थोड़े हैं।"

"जी?" वह घूम कर पत्नी को देखता रहा।

वे मुस्कराईं, "सारे इल्जाम उल्टे हमीं पर... अपने बड़े भोले बनते हैं। कितने घाटों का पानी पिया?"

"जी!" वह उठ कर बैठ गया, "क्या यही सब सुनाने के लिए..." वह उठ कर खड़ा हो गया।

"बहुत खराब लगता है। और नहीं तो क्या? वहाँ तप करते रहे! मर्द तो कुत्ते होते ही हैं। इधर पत्तल चाटी, उधर जीभ चटखारी, उधर हँड़िया में मुँह डाला। ...सभी लाज-लिहाज तो बस, हमारे ही लिए है।"

रात के दो बज रहे थे, जब वह स्टेशन पहुँचा था। सुबह होने के पहले ही वह गाड़ी पर सवार हो चुका था और दिन निकलते-न-निकलते उसे गहरी नींद आ गई थी। लोगों के पैरों से कुचला जाता हुआ, एक गठरी की तरह, नींद में गर्क वह पड़ा रहा।

दादा की चिट्ठियाँ आती रहीं। हर मनीआर्डर फार्म पर नीचे माँ की अनुनय-विनय-भरी चंद सतरें... फिर अलग से पत्र। उसने लिख दिया, 'अब चिट्ठी तभी लिखूँगा जब बीमार पड़ूँगा। न लिखूँ तो समझना माँ, कि तुम्हारा लाड़ला बेटा आराम से है। उसे कोई दुख नहीं है।" माँ के पत्र धीरे-धीरे बंद हो गए। दादा के टेढ़े-मेढ़े काँपते अक्षर याद दिलाते रहे कि माँ जब ज्यादातर चुप रहने लगी हैं। फिर यह कि माँ किसी को पहचान नहीं पातीं। इस बात से उसे जाने क्यों संतोष हुआ। दादा लिखते रहे और वह चुपचाप पड़ा रहा। जैसे धीरे-धीरे कहीं सारे संबंध-सूत्र टूटते गए और वह निर्विकार-सा, भूला हुआ-सा चुपचाप पड़ा रहा। किस बात का इंतजार था उसे? शायद किसी बात का नहीं। कभी उसे लगता था कि सभी ने उसे छोड़ दिया है। अब धीरे-धीरे यह लगता था कि उसी ने अपने को छोड़ दिया है...। जिस दुख का कोई प्रतिकार नहीं होता, वह दुख क्या होता भी है... इसी तरह एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष... चार वर्ष। कि एक दिन उसने देखा - वैसा ही बड़ा-सा साफा बाँधे, छह फीट ऊँचे दादा, सत्तर साल की उम्र में भी उसी तरह तन कर दरवाजे पर खड़े हैं।

उसका सारा धैर्य और सारा एकांत जैसे बह गया, उस एक क्षण में ही। किसी भी बात का प्रतिकार नहीं कर सका। दादा जी को रोते देख कर उसके आँसू बंद हो गए थे...। स्टेशन पर उतरे तो वही पुरानी घोड़ा गाड़ी खड़ी थी। शंभू कोचवान दस सालों में जैसे बिलकुल नहीं बदला था। घोड़े की पूँछ झर गई थी और उसके बदन पर जगह-जगह घाव के लाल-लाल चप्पे दिखायी दे रहे थे...। वही रास्ता... धूल-धूसरित गाँव, नदी के लंबे सूने, दूर-दूर तक खिंचे कगार। अंतहीन, लंबे, मरीचिका-भरे मैदान और लू में तपती पृथ्वी की प्यासी आँखों-सा शुष्क और गेरुआ सोता...। बचपन के बारह वर्ष, अपने जिन आत्मीय दृश्यों में उसने गुजारे थे, बाद के बारह वर्षों में वह दूसरी मर्तबा देख रहा था। एक बार पिता की मृत्यु के बाद घर आने पर और दुबारा अब, दादा के साथ। जैसे सब-कुछ वहीं था - उसी तरह। सूने मैदानों में हिरनों के झुंड छलाँगें मारते हुए नदी की ओर दौड़े जा रहे थे। कहीं-कहीं बबूल की विरल छाँह में नीलगायों के झुंड कान उठाए खड़े थे। ...सब-कुछ वही था - उस पार बालू का सफेद सैलाब, तेज गरम हवा के झकोरों से क्षितिज तक फैलता हुआ... और सूर्य की अंतहीन करुणा की रेखा - वह नदी... उसने सोचा - कैसे कह सकता है वह? किस से कह सकता है - अंतर की इतनी असह्य यंत्रणा!

एकाएक उसे आरती का खयाल आया। दादा ने बताया था, 'आरती आई हुई है, बहुत हठ से बुलाया है।' फिर वे हरी की प्रशंसा करते रहे, 'बहुत अच्छा लड़का मिल गया। आरती सुखी है।' फिर दादा चुप हो गए। आरती सुखी है, जैसे यह बात ही कहीं कुरेद गई...। फिर वे बयान करने लगे - 'उसके एक बच्चा भी है। दिन-रात रबड़ की गेंद की तरह लुढ़कता रहता है, इस गोद से उस गोद में। अपनी नानी को खूब तंग करता है... लेकिन वह बेचारी तो...' दादा फिर चुप हो गए थे। इन बेतरतीब बातों में ढेर सारे चित्र उसकी आँखों के सामने उभर रहे थे। कभी आरती का नन्हा रूप। फिर उसका बड़ा-सा भव्य नारी-शरीर। अजीब-अजीब-सा मन होने लगा उसका।

झिलमिलाती हुई आँखों से उसने दादा की ओर देखा। वे झपकियाँ ले रहे थे।

गाड़ी रुकते ही उसने दरवाजे की ओर ताका। माँ वहाँ जरूर होंगी। लेकिन तभी आरती निकल आई। एक पल को वह पहचान नहीं पाया। उसकी कल्पना में आरती का यह नक्शा कभी उभरा ही नहीं था। आरती ने झुक कर पैर छुए। वह वैसे ही देखता रहा। फिर दोनों एक दूसरे को देख कर मुस्करा दिए। फाटक के भीतर घुसते ही वह इधर-उधर झाँकने लगा। कहीं भी माँ होंगी ही। एक विचित्र भाव से संत्रस्त और चुप-चुप वह बहन के साथ-साथ आगे बढ़ता चला जा रहा था। झरती हुई लखौरी ईंटों की दीवारें उसकी आँखों के सामने थीं। उनके आस-पास माँ की छाया तक न दीखी। दालान पार करके आँगन में आ गए। आधे आँगन में दीवार की छाया पड़ रही थी। माँ वहाँ भी नहीं थीं। उसने एक बार फिर बहन को देखा। जवाब में वह मुस्करा पड़ी। फिर वे बैठकखाने में आ गए। बहन ने कहा, "बैठो, मैं नहाने के लिए पानी रखवाती हूँ।"

वह एक पुरानी आराम-कुर्सी पर बैठ गया। बैठे-ही-बैठे उसने फिर इधर-उधर ताका। फिर भी माँ नहीं दिखीं। मुड़ कर पीछे की ओर देखा तो उसकी दृष्टि आँगन के पार, अपने कमरे के सामने खड़ी पत्नी पर पड़ गई। वह चुपचाप खड़ी इधर ही देख रही थीं। वह सीधा हो कर बैठ गया और आरती का इंतजार करने लगा। उसे लगा कि अपने ही घर में वह एक अतिथि है और अपने परिचित कोनों, घरों की दीवारों, ताखों-सीढ़ियों को नहीं छू सकता। हर कहीं एक बाध्यता है... एक न जाने कैसी विवश खिन्नता। ...वह उठ कर टहलने लगा।

तभी आरती अंदर आई। काँच की तश्तरी में लड्डू और पानी का गिलास। वह बैठ गया।

"नहाओगे न?"

"माँ कहाँ है?"

"पहले खा-पी लो तब चलना। पीछे वाले कमरे में होंगी।" आरती उठ कर चली गई।

बिना किसी से पूछे बरामदे से होता हुआ वह पीछे की ओर निकल आया। पत्नी अपने कमरे के दरवाजे पर खड़ी थीं। उसे आते देख कर उन्होंने हलका-सा घूँघट कर लिया। वह आगे बढ़ गया। कमरे के सामने वह एक पल को ठिठका। किवाड़ उँठगाए हुए थे। उसने हलके-से किवाड़ों को ठेल दिया। खुलते ही एक अजीब-सी सड़ी दुर्गंध से नाक भर-सी गई। उसने नाक पर रूमाल रख लिया और अंदर दाखिल हुआ। इधर-उधर देख कर उसने यह पता लगाने की कोशिश की कि यह दुर्गंध किस चीज की है। लेकिन कोई चीज वहाँ नहीं दिखी। फिर भी हर चीज जैसे दुर्गंध में सनी हुई थी... चारपाई, बिस्तर, खिड़कियाँ, छत की शहतीरें, फर्श और स्वयं माँ भी। वह चुपचाप चारपाई की पाटी पर बैठ कर माँ को एकटक देखने लगा। बुढ़िया ने कोई उत्सुकता जाहिर नहीं की। वैसे ही छत की ओर देखती रही।

तभी आरती आ गई। सिरहाने बैठ कर बुढ़िया के चीकट वालों पर हाथ फिराती हुई बोली, "माँ!"

बुढ़िया न हिली-न-डुली, न यही जाहिर किया कि उसे किसी ने पुकारा है। बस, चुपचाप छत की शहतीरें ताकती रही। एकाध मिनट तक दोनों चुप रहे। बुढ़िया ने करवट बदली और उसकी ओर देखने लगी।

"माँ! देख, भैया आया है।"

बुढ़िया ने इस बार सिर उठा कर बेटी को देखा और हँसने लगी। "देख, भैया आया है।" उसने दुहराया।

"हाँ, माँ!"

बुढ़िया फिर चुप हो गई और एक पल के बाद उसने आँखें मूँद लीं।

वह चुपके-से उठ आया।

आरती पीछे से बोली, "भइया, नहा लो।"

तीसरा पहर बीत रहा था। वह बैठकखाने में आराम-कुर्सी पर आँखें मूँदे पड़ा था। पत्नी रसोई में छौंक लगा रही थीं। भूख लग आने के बावजूद भी जैसे इच्छा मर गई थी।

कुछ भी टिक नहीं पाता था मन में। हज़ारों-लाखों प्रतिबिंब जैसे किवाड़ों की ओट से झाँकते और आधी पहचान दे कर गुम हो जाते। समाप्त होना किसे कहते हैं... खोना किसे कहते हैं... निस्सहाय होना किसे कहते हैं... मूक होना किसे कहते हैं... अर्थहीन होना किसे कहते हैं - यह सब-का-सब कितना स्पष्ट हो गया था अंतर में!

...आँखें खोलने पर क्या दिखेगा - सच या सपना?

फिर भी यह देह है और उसी तरह आरामकुर्सी में पड़ी है। बाहर से कहीं कुछ नहीं बदला है। सारा रक्तपात भीतर हो रहा है। और खून कहीं एकत्र होता है... बहता नहीं।

सब-कुछ वही है। बल्कि दादा, आरती और सारे परिवार को एक निधि मिली है। सभी आज खुश हैं। कुछ घट रहा है। और इधर? उसे लगा कि अब वह मनुष्य नहीं है। सत्कर्म, सेवा या दुष्कर्म, पाप...सब समान हैं। जिसके लिए होंगे, उसके लिए होंगे। वह मनुष्य होगा। लोगों की दृष्टि में तो सभी कुछ है लेकिन उसके लिए? ...सच है कि सब-कुछ ज्यों-का-त्यों है, लेकिन मानवीय इच्छाओं का, उसका अपना संसार कहीं अँधेरे में गुम हो गया है।

उसने एक झटके से आँखें खोल दीं। आरती उसके पैरों के पास चटाई पर बैठी कुछ सी-पिरो रही थी। उसके देखते ही मुस्करा पड़ी - 'नींद आ रही है न?'

उसने कोई जवाब नहीं दिया। लगा कि कई जन्मों से वह इसी तरह चुप है। बोलना बहुत चाहता है, लेकिन मुँह से कोई शब्द नहीं निकलता। जैसे दिल की धड़कनों पर अनजाने ही हाथ पड़ गया हो और धड़कनें रुक-सी रही हों। जीभ तालू से सट गई हो। बहुत कोशिश कर रहा हो हिलने-डुलने की, लेकिन जरा भी हरकत न होती हो। जड़, निराधार, निरुपाय वह अपने को ही देख रहा हो...।

उसने उठ कर खिड़की खोल दी। आँगन का प्रकाश छनकर भीतर आ गया और हवा का एक गरम झोंका बदन छीलता हुआ दूसरी खिड़की से सरक गया। वह यों ही टहलता रहा।

"तू किस क्लास में है आरो?"

"प्रीवियस में।"

"हरी कैसा है?"

"ठीक हैं।"

"मुझे कभी याद..." तभी पत्नी दरवाजे के सामने से झमक कर निकल गईं। वह चुप हो रहा। फिर आरती उठ कर चली गई।

वह बाहर बरामदे में निकल आया। आँगन में छाया बढ़ रही थी। आगे बरगद पर धूप अभी बाकी थी। उसने छत की ओर देखा। एकाएक माँ को देख कर वह घबरा गया। जल्दी से दौड़ कर सीढ़ियाँ तय कीं और छत पर आ रहा। माँ पसीने से तर, नंगे पाँव, जलती छत पर खड़ीं थीं। उनके आधे बदन पर धूप पड़ रही थी और गरम हवा के हल्के झोंके में रह-रहके उनके धूसर बाल उड़ रहे थे। वे चुपचाप, पश्चिम की ओर पीली धूल-भरी आँधी और धूल में डूबे बाग-बगीचों के ऊपर छाए हुए आसमान की ओर देख रही थीं।

"माँ!" उसने पुकारा।

फिर बिना कुछ कहे उसने बुढ़िया को बाँहों में उठा लिया और सीढ़ियाँ उतरने लगा। नीचे आरती खड़ी थी। बोली "क्या हुआ?"

"कुछ नहीं, नंगे पाँव जलती छत पर धूप में खड़ी थीं।"

बैठकखाने में ला कर उसने बुढ़िया को आरामकुर्सी में डाल दिया।

"भइया, खाना खा लो।" आरती ने कहा।

एकाएक वह चौंक गया। जले हुए दूध की महक आ रही थी। दौड़ कर उसने जलती हुई पतीली अँगीठी से उतार दी। उसका हाथ जल गया और पतीली छूट कर जमीन पर लुढ़की तो सारा दूध फैल गया। धीमे से बुढ़िया की खिलखिल सुनाई दी तो उसने घूम कर देखा - वह वैसी-की-वैसी ही बैठी थी। एकदम शांत, जड़ और निश्चल। जली हुई उँगलियों को मुँह में डाले वह उसकी खाट की ओर बढ़ गया। बुढ़िया एकटक उसे ताकने लगी। उसकी गोद में जूठी थाली वैसे ही पड़ी हुई थी। हाथ जूठे थे और मुँह पर दाल और सब्जी के टुकड़े सूख रहे थे। उसकी नाक बह रही थी जिसे कभी-कभी वह सुड़क लेती। पानी का लोटा वैसे ही नीचे रखा था। तो क्या उसने अभी तक पानी नहीं पिया? ...उसने झुक कर लोटा उठाया और बिना कुछ कहे बुढ़िया के होठों से लगा दिया। गटगट कर के वह तुरंत आधा लोटा पानी पी गई। फिर मुँह उठा कर उसकी ओर देखा और मुस्करा पड़ी। उसने थाली हटा कर नीचे डाल दी और बुढ़िया के जूठे हाथ (वह दोनों हाथों से खाए हुए थी।) धोने लगा। फिर उसने बुढ़िया का मुँह धोया और अपने कुरते की बाँह से पोंछ दिया।

"माँ, मुझे पहचानती हो, मैं कौन हूँ?"

"माँ, मुझे पहचानती हो, मैं कौन हूँ।" बुढ़िया ने वाक्य ज्यों-का-त्यों दुहरा दिया। केवल प्रश्नवाचक स्वर नहीं था उसका।

"मैं संजय हूँ... माँ!"

"...संजय हूँ माँ!"

उसके भीतर जैसे कोई चीज अटकने लगी। वह चुप हो गया। लगा, जैसे अँतड़ियों में बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े आपस में टकरा रहे हैं। उसने बुढ़िया के पाँव उठा कर चारपाई पर रख दिए और पकड़ कर धीमे-से लिटा दिया। बुढ़िया लेट रही और टुकुर-टुकुर उसे देखने लगी। वह उसके तलुवे सहलाता रहा। बुढ़िया मुस्कराती और फिर हल्के से खिल-खिल करके हँस पड़ती। उसके सफेद चमकदार दाँत टूट गए थे और मुँह खुलने पर एक काले, गहरे बिल की तरह दिखता। चेहरे की झुर्रियों में चिकनाहट आ गई थी और हाथ-पैर सब चिकने-चिकने लगते थे, जैसे किसी फोड़े के आस-पास की चमड़ी सूजन से खिंच कर चिकनी और मुलायम पड़ जाती है।

"माँ, मैं हूँ... संजय" वह बुढ़िया के चेहरे पर झुक गया, "माँ मैं हूँ... मैं... संजय..."

बुढ़िया उस पर खूब जोर से खिलखिला कर हँस पड़ी और फिर एकदम चुप हो गई। उसकी आँखों से दो बड़े-बड़े आँसू बुढ़िया के चेहरे पर चू पड़े। इस पर बुढ़िया फिर खिलखिला पड़ी।

सीढ़ियों पर धमस सुन पड़ी। पत्नी धपधपाती हुई ऊपर आ रही थीं। वह उठ कर बैठ गया। ऊपर आते ही उनकी नजर मिल गई - बोलीं, "वहाँ क्यों बैठे हो?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही।"

वे निकट चली आईं - "क्या खुसुर-फुसुर चल रही थी? बुढ़िया बड़ी चार-सौ-बीस है...।"

"दूध गिर गया।" उसने दूसरी ओर देखते हुए कहा।

"गिर गया?" वे चौंक कर अँगीठी की ओर देखने लगीं।

"जल्दीबाजी में हाथ से पतीली छूट गई।"

"थोड़ा-सा भी नहीं बचा है?"

"होगा बचा, मैंने देखा नहीं।"

वे अँगीठी की ओर चली गईं। पतीली को हिला-डुला कर बोलीं, "हाय राम, अब क्या करूँ? उसमें तो पीने लायक दूध ही नहीं।"

"मुझे रात को दूध पीने की आदत नहीं है।" उसने कहा और उठ कर टहलने लगा।

पत्नी ने घूर कर देखा, जैसे कह रही हों, "आदत न होने से क्या होता है?"

टहलते हुए वह छत के कोने में निकल गया, जहाँ बाँसों की छाया में अंधकार और भी गाढ़ा हो रहा था। हरी-हरी पत्तियों के झुरमुट में इक्के-दुक्के जुगुनू दमक रहे थे। नीचे दूर-दूर तक बाँसों के भीतर अँधेरा-ही-अँधेरा और उसी तरह दमकते जुगुनू। उसने हाथ बढ़ा कर एक जुगुनू को पकड़ना चाहा तो वह झट से अलोप हो गया और कुछ दूर पर फिर दप-से चमक गया। उसे याद आया - किस तरह बचपन में ढेर सारे जुगुनू पकड़ कर वह अपने घुँघराले बालों में फँसा लेता और माँ के पास दौड़ा-दौड़ा जा कर कहता - "माँ-माँ, इधर देखो, जुगुनू का खोंता।"

"नींद नहीं आती?"

उसने घूम कर देखा - पत्नी पास ही खड़ी थीं।

"रात बहुत चली गई है। थोड़ी ही देर में गंगा नहाने-वालियों के गीत सुनाई पड़ने लगेंगे।"

"हाँ, ठीक है।" उसने घड़ी देखी, "बारह बज गए!" वह आकर पलंग पर लेट गया।

पत्नी आकर पायताने बैठ गईं। अब उसने देखा। उन्होंने सफेद रेशमी साड़ी पहन रखी थी। बदन पर बस चोली-भर थी। बाल खूब खींच कर बाँधे हुए थे और हाथों की चूड़ियाँ रह-रह के पंखा झलते वक्त खनक जातीं। ...पूरब की ओर लाल-लाल चाँद उग रहा था और बरगद के सघन पत्तों के बीच से चाँदनी का आभास लग रहा था। आसमान और भी गहरा नील वर्ण था, और सप्तर्षि काफी ऊपर चढ़ आए थे।

"गरमी नहीं लगती?" वह खिसक कर पलंग की पाटी पर बीचों-बीच में चली आईं। एक हाथ उसकी कमर के पार से दूसरी पाटी पर रखती हुई वे एकदम धनुषाकार झुक गईं और दूसरे हाथ से पंखा झलती रहीं। वह करवट घूम कर उन्हें देखने लगा। भरी-भरी-सी गदबद देह। गरमी का मौसम होने पर पेट और बाँहों पर लाल-लाल अम्हौरियाँ भर आई थीं।

"लाओ, कुरता निकाल दूँ। इतनी गरमी में कैसे पहने रहते हो ये कपड़े?" वे उठ कर सिरहाने की ओर चली आईं। तकिया एक ओर खिसका दिया और उसका सिर हाथों से उठाती हुई बोलीं "जरा उठो तो।"

वह उठ कर बैठ गया। बाँहें ऊपर कर दीं। उन्होंने कुरता निकाल कर एक ओर रख दिया। फिर बनियान निकाल दी। हलके प्रकाश में उसका सोनल बदन दिपने लगा। पत्नी पीठ सहलाती रहीं, थोड़ी देर। फिर बाँहें। फिर कंधे पर ठोड़ी रख कर टिक गईं। बोलीं, "इतने दुबले क्यों हो? क्या शहर में खाने को नहीं मिलता!"

"जी, ठीक तो हूँ। दुबला कहाँ हूँ!"

"हो क्यों नहीं? क्या मैं अंधी हूँ?" वे और सट आईं।

"माँ" उसने फुसफुसा कर इशारा किया - "बैठी हैं।"

जैसे किसी ने चिकोटी काट ली हो, पत्नी झट-से सीधी हो गईं फिर बोलीं, "वो! वो कुछ नहीं समझतीं।"

फिर भी वे उठीं और जा कर बुढ़िया को दूसरी करवट फिरा कर लिटा दिया। बुढ़िया चुपचाप लेट गई।

लौट कर वे पलंग की पाटी पर अधबीच में ही बैठ गईं और पंखा झलती रहीं। चाँद ऊपर चढ़ आया था और सारा आसमान धूसर रोशनी से भर आया था। छत से दूसरी छतें, पीछे की ओर का बगीचा, तथा बरगद का दरख्त रोशन हो उठे थे। वातावरण कुछ नम पड़ गया था और दूर से मधूक पक्षी की आवाज सन्नाटे को रह-रह के चीर जाती...

जरा एक ओर खिसको न..."।

"ऊँ? ...हूँ।" उसने खिसक कर जगह कर दी।

"नींद आ रही है?"

"हूँ।"

"कितने बज रहे हैं?"

"एक।" उसने अँधेरे में घड़ी देखी और जमुहाइयाँ लेने लगा।

"तुम्हारी छाती पर एक भी बाल नहीं हैं।" उन्होंने अपना सिर रख दिया। पंखा नीचे डाल दिया।

"..."

"प्यार कर लूँ?"

"जी!"

जैसे कोई झाड़ी में छिपे हुए खरगोश को पकड़ने के लिए धीमे-धीमे कदम बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी तरह उन्होंने कान के पास मुँह ले जा कर एक-एक शब्द नापते हुए कहा - "मैं ...कहती ...हूँ - प्यार कर लूँ?" उसने हाथ के इशारे से फिर भी अपनी नासमझी जाहिर की।

"धत्।" वे मुस्करा पड़ीं, कुहनी तकिये से टिका कर हथेलियों पर अपना सिर रख कर ऊँची हो गईं। एकाएक चेहरे का भाव एकदम बदल-सा गया। बोलीं "इतना अत्याचार क्यों करते हो?"

वह कुछ कहने ही जा रहा था कि 'कुकड़ू कूँ, कुकड़ू कूँ...' करती हुई ढेर सारी मुर्गियाँ, छत पर इधर-उधर दौड़ने लगीं - डरी और घबराई हुई-सी। दो-तीन मुर्गे एक ही साथ बाहर निकल आए और उनमें से एक ने खूब ऊँची आवाज में बाँग दी - कुकड़ू कूँ...। एक झटके-से वे दोनों उठ कर बैठ गए। छत के कोने में एक ओर मुर्गियों का दरबा था। देखा, बुढ़िया ने दरबा खोल कर सारी मुर्गियों को बाहर निकाल दिया है और चुपचाप खड़ी मुस्करा रही है। कभी हल्के-से खिलखिला पड़ती है। एक अजीब-सी दहशत में उसे पसीना आ गया। तभी बुढ़िया ने एक ईंट का टुकड़ा उठाकर मुर्गियों के झुंड की ओर फेंका। मुर्गियों में फिर खलबली मच गई और वे त्रस्त और निरुपाय इधर-उधर भागने लगीं। एक मुर्गा छत की मुँडेर पर जा बैठा और फिर उसने जोर की बाँग लगायी - "कुकड़ू कूँ"

वह उठने को ही था कि पत्नी झुँझलाती हुई उठ खड़ी हुईं। रेशमी साड़ी कुछ-कुछ खिसक गई थी। जल्दी से उन्होंने पेटीकोट से उसे खींच कर पलंग पर डाल दिया और बुढ़िया के पास चली गईं। बुढ़िया उसी तरह खिलखिला कर हँस पड़ी। पत्नी ने होंठ काटे, फिर कुछ कहना चाहा, फिर व्यर्थ समझ कर चुपचाप बुढ़िया की बाँह पकड़ ली और घसीटते हुए खाट पर ले जा कर पटक दिया।

"लेटो।" पत्नी का गुस्सा उबल पड़ा।

बुढ़िया उसी तरह उँकड़ूँ बैठी रही।

पत्नी ने उसे हाथों से खाट पर पसरा दिया।

बुढ़िया फिर भी उसी तरह ताकती रही।

पत्नी एक पल खड़ी रहीं, फिर घूम कर उसकी तरफ देखा। दोनों दौड़-दौड़ कर मुर्गियों को पकड़ने में लग गए। धीरे-धीरे सारी मुर्गियाँ दरबे के अंदर हो गईं, लेकिन एक मुर्गा छत की मुँडेर के आखिरी सिरे पर बैठा हुआ था। उसने एकाध बार हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ना चाहा, तो वह और आगे की ओर खिसक गया। उसने कहा, "इसको क्या करें?"

"राँध कर खा जाओ।" पत्नी झुँझलाती हुई फर्श पर बैठ गईं।

लेकिन तभी जाने क्या सोच कर मुर्गा नीचे उतर आया। उसने दौड़ कर उसकी गरदन पकड़ ली और दरबे में ले जा कर ठूँस दिया। फिर जैसे चैन की साँस लेता हुआ मुँडेर से टिक कर खड़ा हो गया। एकाएक उसकी नजर बुढ़िया की ओर चली गई। वह चित लेटी हुई आसमान की ओर ताक रही थी। तभी पत्नी ने उठते हुए आवाज दी - "अब वहाँ क्या करने लगे?"

वह निकट चला आया; बोला, "सुनो, बरसाती में पलंग ले चलें तो कैसा रहे?"

छत पर सादे खपरैल से बनी एक बरसाती थी। पत्नी ने कहा, "मैं नहीं जाती बरसाती में। इतनी गरमी में उस काल कोठरी में मुझसे नहीं सोया जाएगा।

"पंखा तो है ही।"

"पंखा जाए भाड़ में। रात-भर पंखा कौन झलेगा!"

"मैं झल दूँगा।" वह मुस्कराया।

"चलिए..." पत्नी ने सिर झटकते हुए कहा। वे खुश मालूम दे रही थीं। एकाएक घूम कर उन्होंने कहा, "अच्छा, एक काम करती हूँ..." वे उठ खड़ी हुईं। बोलीं, "इनकी चारपाई जरा बरसाती में ले चलिए तो!"

"क्या कह रही हैं आप? माँ की तबीयत नहीं देखतीं।"

"ले तो चलिए। उन्हें गरमी-सरदी कुछ नहीं व्यापती। अबकी माघ के महीने में बाहर नदी के किनारे लेटी थीं। लोग गए तो ऊपर से हँसने लगीं।"

"अरे भाई..."

"क्या लगाए हैं अरे भाई, अरे भाई! रात-भर इसी फरफंद में..." उन्होंने बुढ़िया को उठा कर खड़ा कर दिया और चारपाई उठा ली।

"अब यहीं आराम से पड़ी रहो महारानी!" पत्नी ने नजाकत के साथ बरसाती के दरवाजे पर खड़े-खड़े दोनों हाथ जोड़े और उसकी ओर देख कर मुस्कराईं। खाट पर लिटाते वक्त बुढ़िया ने एक बार अँधेरे में चारों ओर नजर डाल कर टटोला था और तकरीबन दो मिनट तक लगातार खाँसती रही। फिर जैसे चुप खो-सी गई। चाँदनी उजरा चली थी और आसमान से हलकी-हलकी नमी उतर कर चारों ओर वातावरण पर छा रही थी। बरगद की ऊपरी डालों से भी अगर कोई पत्ता टूट कर नीचे गिरने लगता, तो उसकी खड़-खड़ साफ सुनाई पड़ जाती।

"मुझे प्यास मालूम दे रही है; ऊपर पानी होगा क्या?" उसने कहा।

पत्नी ने झुक कर उसकी आँखों में देखा और मुस्कराईं - "प्यास लगी है?"

"हाँ।"

"सच?" वे उसी तरह आँखों में देखती रहीं।

उसे थोड़ी-सी झुँझलाहट महसूस हुई। फिर उसे दादा का खयाल आया। फिर जैसे सिर घूमने लगा और मतली-सी महसूस हुई। फिर ढेर-सारी बातें मन में घूमने लगीं - जैसे दिमाग में कई कदम लड़खड़ाते हुए चल रहे हों। उसने सोचा - 'नरक।' फिर उसके दिमाग में आया, 'क्यों इतना विवश हो गया है वह?' फिर तर्क-पर-तर्क... कौन समझ सकेगा कि इतना आवेग-शून्य क्यों है वह? ...फिर जैसे भीतर-ही-भीतर कहीं झनझनाता हुआ-सा दर्द उठने लगा। उसे लगा कि उसकी पीठ में चटक समा गया है और साँस लेने में कठिनाई हो रही है। उसने करवट बदल कर यह जान लेना चाहा कि कहीं सचमुच तो पीठ में चटक नहीं समा गया, कि तभी पत्नी ने बाँहों में भर कर उसे अपनी तरफ घुमा लिया। कहीं कुछ बात बढ़ न जाए, इसलिए उसने अपनी भावनाओं पर जब्त करना चाहा। इसी प्रयत्न में वह मुस्कराया, लेकिन उसकी एक आँख से एक बूँद ढुलक कर चुपके से बिस्तर में गुम हो गई।

"पानी दूँ?"

वह परिस्थिति भाँप चुका था और उन बातों में रस आने के बजाय उसे इतना थोथापन महसूस हुआ कि उसकी इच्छा होती कि वह कानों में उँगली डाल ले, या जोर से चीख पड़े। लेकिन यह कुछ भी नहीं हो सका। बोला, "जी, मेहरबानी करें तो एक गिलास पानी पिला ही दीजिए।"

पत्नी झुकीं तो उसने अपना चेहरा तकिये में गड़ा लिया। ...फिर जैसे वह पस्त पड़ गया। अब तक जितना चौकन्ना था अब उतना ही ढीला पड़ गया।

एक हाथ से वे उसकी छाती सहलाती हुई बोलीं, "कैसे-कैसे कपड़े फिजूल में पहने रहते हो..." और उसके बाद क्षण-भर में ही वह सारी परिस्थिति भाँप कर एकदम पसीने-पसीने हो गया। आँखें मूँद लीं। उसके माथे की नसें फटने लगीं। खून में आग-सी लग गई। स्वर ओझल हो गए। वे कुछ कह रही थीं - "मेरे बालम! कितने जालिम हो तुम! कितने भोले..."

"माँ!" वह उछल कर एक झटके से खड़ा हो गया। लेकिन तुरंत शर्म के मारे वहीं-का-वहीं सिमट कर फर्श पर बैठ गया। पत्नी भय के मारे एकदम से फक्क पड़ गईं। एक पल बाद, जरा-सा सुस्थिर हो कर उन्होंने मुँह ऊपर उठाया तो देखा - बुढ़िया ठीक सिरहाने खड़ी थी, चुपचाप। पत्नी को अपनी ओर देखता पा कर वह फिर मुस्कराई। अब उनका गुस्सा उबल पड़ा। तेजी से उठ कर उन्होंने बुढ़िया की बाँह पकड़ ली। उनके होंठ दाँतों तले दबे हुए थे और वे काँप रही थीं।

"चल... हट यहाँ से।" उनके मुँह से कोई भद्दी गाली निकलते-निकलते रह गई और उन्होंने बुढ़िया को आगे की ओर धकेल दिया।

आगे ईंटों का एक घरौंदा था। बुढ़िया को ठोकर लगी और वह औंधी-सी लुढ़क गई। पत्नी गुस्से में झनझनाती हुई, उसे उसी तरह छोड़ कर, खाट पर आ कर बैठ गईं और दोनों हाथों में उन्होंने अपना सिर थाम लिया।

यों हीं दो-एक मिनट बीत गए। कोई कुछ नहीं बोला। अचानक उसने बुढ़िया की ओर देखा। वह वैसी ही औंधी, फर्श पर पड़ी थी। वह तेजी से उठकर लपका और - "माँ!"

उसने बुढ़िया को उठा कर चित कर दिया। लहू की एक हलकी-सी लकीर होंठों के कोनों में दिखाई दी और फिर एक हूक-सी उठी। उसके होंठ हिल रहे थे...। "जल्दी से दौड़ कर पानी लाओ।" उसने चीख कर पत्नी की ओर देखा। पत्नी उठ कर भागीं नीचे।

बुढ़िया की आँखें खुली थीं। चेहरे की झुर्रियाँ और भी चिकनी हो गई थीं। चाँदनी में उसका चेहरा एकदम उजली राख की तरह चमक रहा था। उसने पुकारा, 'माँ...' और बुढ़िया का सिर बाँहों में थोड़ा और ऊपर कर लिया।

बुढ़िया ने सिर जरा-सा उसकी ओर घुमाया और फिर हलक से खून का एक रेला उसकी गोदी में कै कर दिया।